GISI Impact Factor 0.2310
मई-जून 2015
वर्ष - 9 अंक - 3
ISSN 0973-9777
ijraeditor@yahoo.in

भारतीय शोध पत्रिका

आन्वीक्षिकी

मासद्वयी अन्तर्राष्ट्रीय शोध समग्र पत्रिका

www.anvikshikijournal.com

प्रकाशन
एम.पी.ए.एस.वी.ओ. द्वारा आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित
अन्य सहसंयोजन
सार्कः अन्तर्राष्ट्रीय शोध-पत्रिका
एशियन जर्नल ऑफ मार्डन एण्ड आयुर्वेदिक मेडिकल साइंस
वाराणसी, उ०प्र० (भारत)

MPASVO

आन्वीक्षिकी

भारतीय शोध पत्रिका
वर्ष-9 अंक-3 मई-2015

शोध प्रपत्र

उपनिषदों के ज्ञानखण्ड में नारी विमर्श -डॉ. मनीषा शुक्ला 1-6
वेद नदी सरस्वती का वर्तमान में प्लक्षप्रस्रवण से उद्गम पौराणिक प्रमाण -डॉ. शरदेंदु बाली एवं डॉ. डी. पी. सिंह 7-14

साहित्य में आधुनिकता और भारतीयता -डॉ. विभा मेहरोत्रा 15-20
रतन कुमार सांभरिया की कहानियों में व्याप्त दलित संवेदनायें -डॉ. आरती बंसल 21-23

महिला संतों की भक्ति भावना -श्याम सुन्दर धाकड़ 24-27
सिद्ध साहित्य -डॉ. रमेश टण्डन 28-33

छायावादी कविता में रेखाचित्र का प्रभाव -डॉ. विभा मेहरोत्रा 34-37
आंगनबाड़ी शिक्षिकाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन -अनिता डहरिया एवं डॉ. पुष्पा तिवारी 38-41

संस्थागत संगीत शिक्षा प्रणाली का स्वरुप -डॉ. गीता जोशी 42-43
जय-जगत् : विश्वव्यापी समाज की कल्पना -ज्योति गुप्ता 44-47

उत्तर प्राचीन काल में चाहमानों में जैन धर्म का प्रचार -डॉ. सुम्बुला फिरदौस 48-49
जगदीश स्वामीनाथन के कला विकास का समीक्षात्मक अध्ययन -सन्तोष कुमार एवं डॉ. प्रसन्न पाटकर 50-53

डॉ. जगदीश गुप्त एक अद्भुद कलाकार : कवि एवं चित्रकार -चन्द्रशेखर 54-56
महिलाओं के विशेषाधिकार -डॉ. विभा त्रिपाठी 57-60

विश्वशांति पर गाँधी एवं विनोबा के विचार -डॉ. ज्योति गुप्ता 61-65
जलवायु : परिवर्तन का मंडराता संकट -प्रो. अंजली श्रीवास्तव 66-69

उपासना का विधान -डॉ. स्मिता द्विवेदी 70-73
आधुनिक युग में महिलाओं की स्थिति -विजय कुमार प्रभात 74-77

प्रिंट ISSN 0973-9777, वेबसाइट ISSN 0973-9777

पत्रावली संख्या V-34564, पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777

भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2015) 9,28-33
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 09 अप्रैल 2015

सिद्ध साहित्य

डॉ. रमेश टण्डन*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *सिद्ध साहित्य* शीर्षक लेख / शोध प्रपत्र का लेखक मैं *रमेश टण्डन* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख / शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख / शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छपने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

सारांश

सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्व का प्रचार करने के लिए जो साहित्य जनभाषा में लिखा, वह हिन्दी के सिद्ध-साहित्य की सीमा में आता है। राहुल सांकृत्यायन ने 84 सिद्धों के नामों का उल्लेख किया है। इनमें सरहपा प्रथम हैं, इनका कार्यकाल 769 ई0 है। ये नारी भोग में विश्वास करते थे। इन सिद्धों में विशेष बात यह थी कि वे ईश्वरवाद की ओर अग्रसर हो रहे थे। इन्होंने गृहस्थ जीवन पर बल दिया। इनके लिए स्त्री का सेवन संसार रूपी विष से बचने के लिए था। जीवन के स्वाभाविक भोगों में प्रवृत्ति के कारण सिद्ध साहित्य में भोग में निर्वाण की भावना मिलती है। सिद्धों की काव्य कृतियों में प्रधान रूप से नैराश्य भावना, कायायोग, सहज शून्य की साधना और भिन्न-भिन्न प्रकार की समाधिजन्य दशाओं का चित्रण किया गया है। पर यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि सिद्ध साहित्य में शताब्दियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचार धारा का स्पष्ट उल्लेख है तथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके द्वारा धार्मिक शृंखला और भी दृढ़ हो गई है।

कूट शब्द : "सिद्ध साहित्य में भोग में निर्वाण की भावना"

483 ई0 पू0 में बुद्ध का निर्वाण हुआ। इसके 45 वर्ष पश्चात् तक बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का खूब प्रचार हुआ। सहानुभूति और सदाचार के मूल तत्त्वों पर आधारित बौद्ध धर्म का उदय वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता एवं हिंसा के प्रतिक्रिया- रूप में हुआ। "वैदिक कर्म-काण्ड की जटिलता और हिंसा की प्रतिक्रिया में, सहानुभूति और सदाचार द्वारा आत्मवाद के विनाश से तृष्णा और दुःखरहित निर्वाण की प्राप्ति करना ही बौद्ध धर्म का आदर्श रहा।"(वर्मा,1964, पृष्ठ 51) ईसा की पहली शताब्दी के लगभग बौद्ध सम्प्रदाय दो खण्डों महायान और हीनयान में विभक्त हुआ। हीनयानी छोटे रथ के आरोही थे और महायानी बड़े रथ के। हीनयान शब्द का प्रयोग महायान सम्प्रदाय वालों की ओर से व्यंग्यात्मक रूप से हुआ। महायान में लोक-भावना का मेल इतना अधिक हो गया कि निर्वाण के लिए सन्यास और विरक्ति के पर्याय लोक-कल्याण और आचार की पवित्रता प्रधान हो गई तथा वह वर्ग-भेद से उठकर एक सार्वजनिक धर्म बन गया। इसमें ऊँचे-नीचे, छोटे-बड़े, गृहस्थी, सन्यासी सबको

* सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी शासकीय कला एवं विज्ञान महाविद्यालय [खरोरिया] रायगढ़ (छत्तीसगढ़) भारत। E-mail : rameshktandan@gmail.com

© लेखक 2015, एम.पी.ए.एस.सी.ओ.मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहमोजन से प्रकाशित, सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

निर्वाण का मार्ग दिखाने का दावा किया गया। जबकि हीनयान केवल विरक्तों और सन्यासियों को आश्रय देता था। इसमें ज्ञानार्जन, पाण्डित्य और व्रतादि की कठिन मर्यादा बनी रही। बौद्ध धर्म का चिन्तन पक्ष हीनयान में रहा और व्यावहारिक पक्ष महायान में। जो धर्म वैदिक कर्मकाण्ड की उलझनों की प्रतिक्रिया में उठा था, वही समाधि, तन्त्र-मन्त्र, डाकिनी-शाकिनी, भैरवी-चक्र, मद्य-मैथुन में उलझ गया और सदाचार से हाथ धो बैठा। जिस धर्म ने ईश्वर का अस्तित्व तक स्वीकार नहीं किया था, कालान्तर में उसी में बुद्ध की भगवान के रूप में पूजा होने लगी और आगे चलकर तन्त्र ने इस धर्म को अपनी मूल दिशा से एकदम नई राह में मोड़ दिया। अब इसमें त्याग और संयम का स्थान भोग और सुख ने ले लिया। निवृत्ति परायण धर्म में प्रवृत्ति प्रबल हुई और साधक "सर्वतथागतात्मकोऽहं" जैसे मन्त्रों को जप कर अपने आपको बुद्ध समझने लगा। इस प्रकार महायान की सुगम साधना मन्त्रयान के रूप में परिवर्तित हुई। इसमें इनकी अनुयायियों को यह विश्वास हो गया कि अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए मन्त्रों की नियमित साधना आवश्यक है। साधनाओं के विविध प्रयत्नों द्वारा धन संग्रह की ओर ध्यान दिया गया, फलस्वरूप उनमें विलासिता की प्रवृत्तियाँ भी उदय होने लगीं। इस प्रकार मन्त्रयान के विकास के रूप में 'भैरवी चक्र' ने सदाचार की अवहेलना की और 'वज्रयान' का अभ्युदय हुआ। "सिद्धों ने बौद्ध-धर्म के वज्रयान तत्त्व का प्रचार करने के लिए जो साहित्य जन-भाषा में लिखा, वह हिन्दी के सिद्ध- साहित्य की सीमा में आता है।"(नगेन्द्र,1988, पृष्ठ 79) ऐसे बौद्ध साधक जो मन्त्रों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने में विश्वास करते थे, सिद्ध कहलाये।

वज्रयानी परम्परा को लेकर सिद्ध कवियों ने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन सिद्धों में विशेष बात यह थी कि वे ईश्वरवाद की ओर अग्रसर हो रहे थे। इन्होंने गृहस्थ जीवन पर बल दिया। इनके लिए स्त्री का सेवन संसार रूपी विष से बचने के लिए था। जीवन के स्वाभाविक भोगों में प्रवृत्ति के कारण सिद्ध साहित्य में भोग में निर्वाण की भावना मिलती है। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में विश्वास के कारण सिद्धों का सिद्धान्त पक्ष सहज मार्ग कहलाया। सिद्ध कवियों ने जिस स्वाभाविक धर्म और आचार का प्रतिपादन किया, वह वज्रयान के सिद्धान्तों से भिन्न था। निरीश्वरवादी बौद्ध धर्म के क्रोड़ में पल्लवित होने वाले महायान, मंत्रयान और वज्रयान से सम्बन्ध-विच्छेद करते हुए ये सिद्ध किसी 'धर्म महासुख' की ओर अग्रसर हुए जिसमें ईश्वरवाद का प्रतिफलन होता था। शुक्ल जी ने लिखा है कि "बौद्ध धर्म ने जब तान्त्रिक रूप धारण किया, तब उसमें से पाँच ध्यानी बुद्धा और उनकी शक्तियों के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्वों की भावना की गयी जो सृष्टि का परिचालन करते हैं। वज्रयान में आकर 'महासुखवाद' का प्रवर्तन हुआ। प्रज्ञा और उपाय के योग से इस महासुख दशा की प्राप्ति मानी गयी। इसे आनन्दस्वरूप ईश्वरत्व ही समझिए।"(शुक्ल,2003, पृष्ठ 28) "जब तक वज्रयान का केन्द्र श्रीपर्वत पर रहा तब तक तंत्र, मंत्र और अभिचार में माँस, मदिरा और मैथुन का प्रयोग होता रहा, क्योंकि सहजचर्या के लिए ये वस्तुएँ आवश्यक समझी जाती थीं। किन्तु जब वह केन्द्र श्रीपर्वत से नालन्दा और विक्रमशिला में आया तब वज्रयान की सहजचर्या में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ और मद्य, स्त्री आदि का व्यवहार वज्रयान की सिद्धि में आवश्यक नहीं रह गया।"(वर्मा,1964, पृष्ठ 55-56) सिद्धों ने वज्रयान को वहीं तक स्वीकार किया है जहाँ तक वह सदाचार के विरोध में नहीं खड़ा होता। जीवन के स्वाभाविक भोगों में प्रवृत्त होने की सहमति सिद्धों से अवश्य मिलती है और वह इसलिए कि जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन करने से साधना के निर्वाह में बाधा पड़ती है। इसीलिए भोग में निर्वाण की भावना सिद्ध-साहित्य में देखने को मिलती है। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में विश्वास रखने के कारण ही सिद्धों का सिद्धान्त सहज-मार्ग कहलाता है।

आठवीं शताब्दी में जब बौद्ध धर्म का पतन आरम्भ हुआ तब बंगाल के पालवंश में अकेला राजा बचा था जो बौद्धों को आश्रय दे रखा था। उन दिनों बौद्धों का जनाधार खिसक रहा था इसलिए उन्होंने धर्म को तन्त्र-मन्त्र, सम्मोहन और उच्चाटन से जोड़कर जनता में अपनी पहचान बनाने की कोशिश की, लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि वास्तविक धर्म की जगह आडम्बर अधिक प्रबल होकर जनता में फैलने लगा। धर्म का दूसरा नाम चमत्कार और आडम्बर हो गया। तभी बौद्ध धर्म की एक प्रशाखा के रूप में सिद्धों का आविर्भाव हुआ और सबसे पहले सरहपा (सरहपाद) ने उन चुनौतियों को स्वीकार किया जो बौद्ध धर्म के पतन का कारण बनीं और जिनसे लड़ने की आवश्यकता उन्हें थी। यही समय था जब शंकर, कुमारिल और उदयन ने बौद्ध धर्म के विरोध में जाकर ब्राह्मण धर्म की श्रेष्ठता और अनिवार्यता की स्थापना करने में अपनी सारी शक्ति और प्रतिभा लगा दी। सिद्धों को एक ओर बौद्ध धर्म के चमत्कारवाद से लड़ना था तो दूसरी ओर ब्राह्मणवाद से लड़ना था। इसलिए उन्होंने अपनी पहचान बनाने के लिए जनता के बीच जाना उचित समझा। निम्नवर्ग एवं निम्नवर्ण की औरतों के संसर्ग से साधना करने

की आवश्यकता प्रतिपादित की। "स्वयं सरहपाद ब्राह्मण थे। उनका असली नाम राहुलभद्र था, लेकिन 'शर' बनाने वाली औरत के साथ रहने के कारण उन्होंने अपना नाम सरहपा कर लिया। आगे चलकर सिद्धों में निम्न जातियों से अधिकतर लोग आये। जो उच्च वर्ग से आये, उन्होंने नीची जातियों की औरतों से विवाह करके अपने को वर्णच्युत किया।"(पालीवाल,2002, पृष्ठ 101) यह एक नये प्रकार का आन्दोलन था, जिसने नीची समझी जाने वाली जातियों में अपना स्थान बनाया और उनमें यह विश्वास पैदा किया कि यदि ऊँची जातियाँ आपको नहीं मानती तो हमारे साथ रहकर उनके विरोध में साधना करके मोक्ष पाया जा सकता है। यह आश्चर्यजनक स्थिति थी जिसने ब्राह्मणवाद पर करारा प्रहार किया, लेकिन मैथुन की अनिवार्यता को साधना में स्थान देकर अपने पतन का रास्ता भी ढूँढ लिया। परिणाम यह हुआ कि पंचमकार के नाम पर मठों में भ्रष्टाचार फैलने लगा।

ब्राह्मणवाद की श्रेष्ठता ने समाज में इस प्रकार का आतंक फैलाया कि जो ब्राह्मण नहीं थे, वे भी ब्राह्मण होने के सूत्र ढूँढने लगे, और जो ब्राह्मणों में कुछ नीचे थे, उन्होंने स्वयं को ऊँचा सिद्ध करने के लिए उन सारे आडम्बरों का आश्रय लिया जिनके बल पर ब्राह्मणवाद की श्रेष्ठता सिद्ध होती थी। यही नहीं, ब्राह्मण अपने कर्मकाण्ड के बल पर और क्षत्रिय अपने बाहुबल पर अपनी श्रेष्ठता में निमग्न थे, लेकिन ये दोनों ही अनुत्पादक वर्ग के थे। समाज में काम करने वाले वैश्य और शूद्र थे। इन दोनों की अधिकांश आय कर के रूप में ये लोग हड़प लेते थे। सिद्धों का पूरा आन्दोलन इनके विरोध में था।

"सिद्धों का साधना-क्षेत्र भारत का पूर्वी भाग था और मगध के नालंदा (पटना) तथा विक्रमशिला (भागलपुर) के प्राचीन विद्यापीठ इनके गढ़ थे। बौद्धों की तान्त्रिक साधना में वामाचार का स्वीकार और ऋजु मार्ग का त्याग था। सिद्ध तान्त्रिक अनेक प्रकार की सिद्धियों द्वारा अपढ़ जनता में कुतूहल और आश्चर्य की सृष्टि कर रहे थे। ऐसी जनता इनके चाकचिक्य से त्रस्त-चकित थी। इन पर अपनी करामात का और अपने मार्ग का प्रभाव एवं संस्कार जमाने के लिए ये अटपटी बोली- बानी में अन्तः साधना की बातें भाखते थे और अपनी बानी की भाषा को 'संधा' या 'संध्या' भाषा कहते थे; जो कुछ अभिधा में कहते थे उसका सांकेतिक अर्थ बतलाते थे।"(मिश्र,1994, पृष्ठ 51-52)

"वज्रयान के प्रचारकों में प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों की गणना की जाती है जो कि अपनी अलौकिक शक्ति सम्पन्नता, सिद्धियों और विभूतियों के लिए प्रसिद्ध थे।"(सिंह,2004, पृष्ठ 37) श्री राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों के नाम निम्न क्रमानुसार दिया है- (1) लुइपा, (2) लीलापा, (3) विरूपा, (4) डोम्बिपा, (5) शबरपा, (6) सरहपा, (7) कंकालीपा, (8) मीनपा, (9) गोरक्षपा, (10) चोरंगिपा, (11) वीणापा, (12) शान्तिपा, (13) तन्तिपा, (14) चमरिपा, (15) खड्गपा, (16) नागार्जुन, (17) कण्हपा, (18) कर्णरिपा, (19) थगनपा, (20) नारोपा, (21) शलिपा, (22) तिलोपा, (23) छत्रपा, (24) भद्रपा, (25) दोखंधिपा, (26) अजोगिपा (27) कालपा, (28) धोम्मिपा, (29) कंकणपा, (30) कमरिपा, (31) डेंगिपा, (32) भदेपा, (33) तंधेपा, (34) कुकुरिपा, (35) कुचिपा, (36) धर्मपा, (37) महीपा, (38) अचिंतपा, (39) भलहपा, (40) नलिनपा, (41) भुसुकिपा, (42) इन्द्रभूति, (43) मेकोपा, (44) कुठालिपा, (45) कमरिपा, (46) जालंधरपा, (47) राहुलपा, (48) घर्घरिपा, (49) धोकरिपा, (50) मेदनीपा, (51) पंकजपा, (52) घंटापा, (53) जोगीपा, (54) चेलुकपा, (55) गुंडरिपा, (56) लुचिकपा, (57) निर्गुणपा, (58) जयानन्त, (59) चर्पटीपा, (60) चम्पकपा, (61) भिखनपा, (62) भलिपा, (63) कुमरिपा, (64) घवरिपा, (65) मणिभद्रा, (66) मेखलापा, (67) कनखलापा, (68) कलकलपा, (69) कंतालीपा, (70) धहुलिपा, (71) उधलिपा, (72) कपालपा, (73) किलपा, (74) सागरपा, (75) सर्वभक्षपा, (76) नाग बोधिपा, (77) दारिकपा, (78) पुतुलिपा, (79) पनहपा, (80) कोकालिपा, (81) अनंगपा, (82) लक्ष्मीकरा, (83) समुदपा, (84) भलिपा।

"इन सिद्धों में सबसे पुराने 'सरह' हैं जिनका काल डॉ0 विनयतोश भट्टाचार्य ने विक्रम संवत् 690 निश्चित किया है।"(शुक्ल,2003, पृष्ठ 26)

सिद्धों के अनुसार इनके साधना- मार्ग को जानने वाला ही प्रबुद्ध है। यह तथ्य इन पदों से स्पष्ट होता है, 'विरमानंद विलक्षण सुद्ध। जो एथु बुज्झइ सो एथु बुद्ध। भूसुकु भणइ मइँ बूझिय मेलें। सहजाणंद महासुह लीलें।।' -भूसुकपा

'काआ तरुवर पंच विडाल । चंचल चीए पइट्ठा काल। दिढ करिअ महासुह परिमाण। लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाण।।' -लुईपा

सिद्धों ने महासुख (महारस, समरस या सहजामृत रस) की उपलब्धि प्रज्ञा और उपाय के योग से होने की बात कही। महासुख, सहवास-सुख के सदृश माना गया और शक्ति सहित देवताओं के युगनद्ध (स्त्री-पुरुष का आलिंगनबद्ध जोड़ा) रूप की कल्पना की गई, साथ में अश्लील मुद्राओं की मूर्तियों का चलन जोर-शोर से हुआ। साधकों का 'श्री-समाज' हुआ और भैरवी चक्र की 'श्री वृद्धि'-साधना होने लगी। "निम्न वर्ण की स्त्रियों के साथ मद्यपान करके वज्रयानी परम महासुख में लीन होने लगे। सिद्धि के लिए साधकों को किसी शक्ति (स्त्री) का सहवास आवश्यक हुआ। समाज को इस साधना ने पतन के किस गर्त में धकेलने का उपक्रम कर लिया था, इसकी इतने से ही कल्पना की जा सकती है।"(मिश्र,1994, पृष्ठ 53) आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं, "वज्रयानियों की योगतन्त्र साधनाओं में मद्य तथा स्त्रियों का- विशेषतः डोमिनी, रजकी आदि का- अबाध सेवन एक आवश्यक अंग था।"(शुक्ल,2003, पृष्ठ 27) इस सम्बन्ध में डॉ0 शिवकुमार शर्मा जी लिखते हैं कि "धर्मवीर भारती ने सिद्ध साहित्य में उपलब्ध होने वाली अश्लीलता पर आध्यात्मिकता का आरोप करना चाहा है किन्तु हमारे विचार में उस पर रहस्यात्मक प्रतीकात्मक आरोपित करना असंगत है। उन्होंने सिद्धों की शब्दावली की दार्शनिक व्याख्या करते हुए इसे आध्यात्मिक घोषित कर सिद्ध साहित्य के उत्कट भोगवाद को गौण सिद्ध करना चाहा है, किन्तु हमारा विचार है कि सिद्धों का तथाकथित रहस्यवादी साहित्य किसी भी कारण से अलौकिक प्रेम का काव्य नहीं कहा जा सकता है। सिद्ध साहित्य में गहन रहस्यात्मक अनुभूतियों की खोज समस्त तान्त्रिक धारा के प्रवाह को प्रतीपी दिशा में मोड़ने के अनावश्यक प्रयत्न के सिवाय और कुछ भी नहीं है। कभी ऐसा अवश्य था जबकि समस्त सिद्ध साधना और तत्कालीन समाज अश्लीलता और कामुकता के प्रवाह में बेसुध हो चला था।"(शर्मा,1980, पृष्ठ 35-36)

सिद्ध, शास्त्रागम की निन्दा करते थे एवं शास्त्रज्ञानी को मूढ़ मानते थे। अपढ़ सीधी-सादी जनता को आकृष्ट करने सम्बन्धित निम्न पद अवलोकनीय है, 'सत्यागम बहु पढइ सुण बढ़ किं पिण जाणइ।' -कण्हपा

कापालिक जोगियों से बचे रहने का उपदेश घर में सास-ननद आदि देती रहती थीं, पर वे आकर्षित भी होती थीं, 'राग देस मोह लाइअ छार। परम भीख लवए मुक्तिहार। मारिअ सासु नणंद घरे शाली। माअ मारिया, कण्ह भइल कवाली।।'

"जीवन के ऋजु मार्ग के ये विरोधी थे और इनकी सरणियाँ जीवन की सर्वसामान्य अनुभूतियों के अनुकूल नहीं पड़ सकती थीं। इनके उपदेश जीवन के ही सहज स्वरूप के विपरीत थे। फिर इनकी गणना उस साहित्य में कैसे हो सकती है जो सब प्रकार के विशेषत्व का निरसन करने वाला और सर्वसाधारण स्थिति उत्पन्न करने वाला होता है।"(मिश्र,1994, पृष्ठ 54)

सिद्ध प्रायः अशिक्षित और हीन जाति से सम्बन्ध रखते थे, अतः उनकी साधना की साधन भूत मुद्रायें - कापाली, डोम्बी आदि नायिकायें भी निम्न जाति की थीं क्योंकि उनके लिए ये ही सुलभ थीं। इनकी सांध्य भाषा की उलझी हुई शब्दावली में उनके अधकचरे दार्शनिक होने का आभास भले ही मिल जाय किन्तु असल में वे दार्शनिक नहीं थे और न ही दर्शन की कोई ऊँची वस्तु देना उनका उद्देश्य था। "उन्होंने धर्म और अध्यात्म की आड़ में जन-जीवन के साथ विडम्बना करते हुए नारी का उपभोग किया। बस यही उनका चरम गन्तव्य था। उनके कमल और कुलिश, योनि और शिश्न के प्रतीक मात्र हैं।"(शर्मा, 1980, पृष्ठ 36)

"सिद्धों की काव्य कृतियों में प्रधान रूप से नैराश्य भावना, कायायोग, सहज शून्य की साधना और भिन्न- भिन्न प्रकार की समाधिजन्य दशाओं का चित्रण किया गया है। पर यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि सिद्ध साहित्य में शताब्दियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है तथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके द्वारा धार्मिक शृंखला और भी दृढ़ हो गई है।"(सिंह,2004, पृष्ठ 38)

विविध रूप

सिद्धों के साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया जाता है- (क) नीति तथा आचारमय, (ख) उपदेशात्मक, (ग) साधना-सम्बन्धी अर्थात् रहस्यवादी।

इसके अतिरिक्त सिद्ध साहित्य में फुटकर रूप के कतिपय काव्य शास्त्रीय बातों की भी प्रासंगिक रूप से चर्चा मिलती है। सिद्ध साहित्य में साधक तथा डोम्बी और शबरी आदि परस्पर आश्रय और आलम्बन हैं। गुरु दौत्य कार्य सम्पन्न करता है, कापालिका आदि नायिकाओं को स्वकीया, परकीया, सामान्या, प्रौढ़ा, मुग्धा, मध्या एवं अभिसारिका आदि की कोटि में रखा गया है। चर्या पदों में शृंगार के नायकारब्ध तथा नायिकारब्ध दोनों रूप मिलते हैं। उद्दीपन- विभाव के अन्तर्गत नायिका का सौन्दर्य तथा प्राकृतिक वर्णन आते हैं।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

सिद्धों के तान्त्रिक सम्प्रदाय के समानान्तर काल में शैवागमों के कापालिक, रसेश्वर, जंगम, पाशुपत, लिंगायत आदि सम्प्रदायों का प्रचलन हुआ। शाक्तों के वीर आदि सम्प्रदाय; वैष्णवों के पांचरात्र, आदि-सम्प्रदाय तथा नाथ सम्प्रदाय आदि भी उस समय निज-निज मन्तव्यों के प्रसारण में परायण थे। उक्त सभी सम्प्रदाय भारतीय धर्म साधना के मध्य युगीन तान्त्रिक प्रभाव से अत्यधिक प्रभावित थे। निःसन्देह भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की पारिभाषिक शब्दावली में थोड़ा- बहुत अन्तर रहा हो, किन्तु इस रूप में प्रवृत्तिगत एकता दृष्टिगोचर होती है :

(1) प्रत्येक तान्त्रिक सम्प्रदाय में देवता, मन्त्र और तात्त्व दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली भिन्न-भिन्न थी, किन्तु साधना पद्धति सबकी समान थी।
(2) प्रत्येक सम्प्रदाय में शास्त्रीय चिन्तन पक्ष गौण था। साधना क्रिया और चर्यापदों की प्रमुखता थी। साधना पक्ष में गुरु को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया। तान्त्रिक साधना में शिव-शक्ति, लिंग-अंग, प्रज्ञा-उपाय, रस-अस्रक आदि की अद्वय स्थिति पर अत्यधिक बल दिया गया।
(3) तान्त्रिक सम्प्रदायों की साधना पद्धति में शिव और शक्ति की युगनद्धता और उनकी मिथुनात्मक व्याख्या मिलती है। प्रत्येक सम्प्रदाय की साधना में गुह्याचारों पर अत्यधिक बल दिया गया है।
(4) तान्त्रिक साधना में जाति-पाँति और वर्ण-भेद आदि की भरसक निन्दा की गई है।
(5) इन सम्प्रदायों में योग साधना पर अत्यधिक बल दिया गया है। तान्त्रिक साधना के लिए शरीर-शुद्धि प्रथम आवश्यकता है। ब्रह्माण्ड में जो शिव और शक्ति विद्यमान हैं, शरीर में वही सहस्राधार और कुण्डलिनी है। उनकी अद्वयता के लिए योग-साधना अनिवार्य है।
(6) मिथुनात्मक साधना की निरूपण पद्धति सर्वथा सांकेतिक है।
(7) प्रत्येक सम्प्रदाय में वैदिक देवताओं के प्रति अनास्था प्रकट की गई है। उनके स्थान पर लौक देवताओं और उनकी असंस्कृत पूजन पद्धतियों का प्रश्रय दिया गया है।
(8) सभी सम्प्रदायों ने ब्राह्मणवाद की पौराणिक रूढ़ियों का खण्डन और वेदों के प्रति असम्मान दर्शाया है।
(9) तान्त्रिक साधना में मरणोपरान्त मुक्ति या निर्वाण प्राप्ति की अपेक्षा जीवन काल में सिद्धियों को प्राप्त करना श्रेयस्कर बताया गया है।
(10) चमत्कार प्रदर्शन एवं मन्त्र-यन्त्र और बीजाक्षरों का प्रचलन सभी सम्प्रदायों में समान रूप से हुआ है। गुह्य साधना के व्याज से कामशास्त्रीय विधियों का समावेश परोक्ष रूप से हुआ है।
(11) तान्त्रिक काल में उद्भूत वैष्णवों के पांचरात्र सम्प्रदाय में उपासना के चार अंग स्वीकार किये गये हैं- ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद और चर्यापाद। क्रियापाद का सम्बन्ध मूर्तियों और मन्दिरों के निर्माण से है। चर्यापाद का सम्बन्ध मन्त्रों एवं तन्त्रों की व्याख्या से है। इस प्रकार चमत्कार प्रिय युग में मन्दिरों एवं मूर्तियों के निर्माण में कृत्रिमता और अलंकरण-प्रियता को स्थान मिलने लगा। रीतिकाल में कलागत जिस सज्जावाद, चमत्कारप्रियता और कृत्रिमता के दर्शन होते हैं, उसका आरम्भ तान्त्रिक काल में ही हो गया था।

कला पक्ष

"भाषा की दृष्टि से भी सिद्ध साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।"(शर्मा,1980, पृष्ठ 38) सिद्धों की कुछ रचनाएँ अपभ्रंश भाषा में है। यह भाषा अर्द्धमागधी अपभ्रंश के निकट की है। इसे संध्या भाषा भी कहा जाता है क्योंकि यह भाषा अपभ्रंश के संध्या काल में प्रचलित थी। "आचार्य शुक्ल के अनुसार, 'गंगा जउँना माझे बहइ रे नाई' (इला-पिंगला के बीच सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से शून्य देश की ओर यात्रा) इसी से वे अपनी बानियों की भाषा को 'संध्या भाषा' कहते थे।"(शुक्ल,2003, पृष्ठ 29)

इनकी रचनाओं में शान्त और शृंगार रस उपलब्ध होते हैं। भले ही काव्य लक्षणों के अनुसार इनकी रचनाओं में रस का परिपाक न हुआ हो, परन्तु उसमें अलौकिक आनन्द तथा आत्म-तोश का प्रवाह अवश्य है।

सिद्ध साहित्य में दोहा, चौपाई और चर्या गीत आदि छन्द मिलते हैं।

प्रभाव एवं महत्त्व

पूर्व मध्यकाल एवं उत्तर मध्यकाल में जो गोपी-लीला एवं अभिसार के वर्णन मिलते हैं, सिद्ध साहित्य में उसका पूर्व रूप देखा जा सकता है। सिद्धों की उलझी हुई उक्तियों को कबीर की उलटबाँसियों का प्रेरक समझना चाहिए। सिद्ध तंतिपा की अटपटी बानी इस प्रकार है, "बेंग संसार बाड़हिल जाअ। दुहिल दूध के बेटे समाअ। बलद बिआएल गविआ बाँझे। पिटा दुहिए एतिना साँझे। जो सो बुज्झी सो धनि बुधी। जो सो चोर सोई साधी। निते निते पिआला शिहे जूझअ। ढेढपाएर गीत बिरले बूझअ।" (शुक्ल,2003, पृष्ठ 28)

आचार्य शुक्ल जी सिद्धों की रचनाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट करते हैं कि 'वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं।' इससे अलग डॉ0 रामकुमार वर्मा जी लिखते हैं कि "सिद्ध साहित्य का महत्त्व इस बात में बहुत अधिक है कि उससे हमारे साहित्य के आदि रूप की सामग्री प्रामाणिक ढंग से प्राप्त होती है। चारणकालीन साहित्य तो केवल तत्कालीन राजनीतिक जीवन की प्रतिच्छाया है। यह सिद्ध साहित्य शताब्दियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी यह साहित्य एक महत्त्वपूर्ण काल है।"(शर्मा,1980, पृष्ठ 39) डॉ0 शिवकुमार शर्मा का इस सम्बन्ध में यह विचार रहा है, "साहित्यिक उदात्तता और परिपक्वता की दृष्टि से उक्त साहित्य कोई विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है और कदाचित् इसीलिए यह उपेक्षणीय भी रहा है।"(शर्मा,1980, पृष्ठ 39) सिद्धों ने अनेक चर्यापदों को विविध रागों में लिखकर परवर्ती गीतिकाव्यकारों जयदेव, विद्यापति और सूरदास आदि के लिए मार्ग खोल दिया। शृंगार को काम-समन्वित बना इन्होंने भागवतकार और गीत-गोविन्दकार जयदेव के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी। कतिपय विद्वानों का विचार है कि दर्शन क्षेत्र में इन लोगों ने शंकर के मायावाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया और उनके अद्वैतवाद को बौद्धों की शताब्दियों से चली आ रही शून्य सम्बन्धी चिन्तन धारा ने, अग्रसर करने के लिए कम महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया।

सन्दर्भ

पालीवाल, डॉ0 सूरज (2002)- साहित्य और इतिहास दृष्टि, जोधपुर : राजस्थानी ग्रन्थागार, पृष्ठ संख्या 101

मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद (1994)- हिन्दी साहित्य का अतीत, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 51-52, 53, 54

डॉ0 नगेन्द्र (1988)- हिन्दी साहित्य का इतिहास, नयी दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ संख्या 79

वर्मा, डॉ0 रामकुमार (1964)- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रयाग : रामनारायण लाल बेनीमाधव, पृष्ठ संख्या 51, 55-56

सिंह, डॉ0 विजयपाल (2004)- हिन्दी साहित्य का इतिहास, इलाहाबाद : जयभारती प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 37, 38

शर्मा, डॉ0 शिवकुमार (1980)- हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, दिल्ली : अशोक प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 35-36, 36, 38, 39

शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र (2003)- हिन्दी साहित्य का इतिहास, नयी दिल्ली : प्रकाशन संस्थान, पृष्ठ संख्या 26, 27, 28, 29